कहानी

एक कस्बे के नोट्स

नीलेश रघुवंशी

शालू दसवीं में आ गई और शिवा नौवीं में।

शिवा को हमेशा स्कूल जाने में देर हो जाती। पौने बारह तक ढाबे पर काम करते-करते वह कई बार रुआँसी हो जाती क्योंकि शालू स्कूल के लिए पहले ही निकल जाती थी। वह काम का बँटवारा कुछ इस तरह करती थी कि उसका काम जल्दी खत्म हो जाता और उसे अच्छी तरह तैयार होने का समय और मौका, दोनों मिल जाते थे। वैसे भी वह सहेलियों के साथ स्कूल जाती थी। वे सब पढ़ाई, प्रैक्टिकल और टेस्ट के बारे में बातें करते हुए स्कूल आती-जाती थीं।

उन्हें देख दूर से ही लगता कि ये कुछ खास हैं या कुछ खास टाइप की हैं। शालू और उसकी सहेलियों को

देख शिवा हमेशा मुँह बिचकाती और कहती कि ये पढ़ती कम और दिखावा ज़्यादा करती हैं।

उसने भी एक तरकीब निकाली। वह ढाबे पर पीछे जाकर हाथ-मुँह धो लेती और बालों में उँगलियाँ फेर-फेरकर चोटी गूँध लेती। फिर घूम-घूमकर आगे-पीछे होते हुए पूछती, "ठीक है न? अरे ढंग से देख मोटी। नहीं तो अभी तेरी चोटी बना दूँगी।"

लेकिन काम खत्म होने का नाम न लेता था। फिर कक्का उससे कहते, "जाओ बाई, जाओ। जाओ, जाओ मैं सबको निपटा दूँगा।"

शिवा घर की ओर दौड़ लगाती। जल्दी-जल्दी स्कूल के कपड़े पहनती और भागते-भागते कचहरी या स्कूल के एकदम पास लड़कियों के झुण्ड में शामिल हो जाती।

हमारे सुबह के स्कूल थे और उनके दोपहर के।

***

स्कूल के बाद हम तीनों पिता के साथ ढाबे पर देर रात तक रहते। पिता एक भी ग्राहक को लौटने नहीं देते थे। आखिर में भी अगर कोई ग्राहक आ जाता तो सामान बाहर निकालकर उसे खाना खिलाते और बहुत खुश हो जाते, "चलो भई, बन्द करते-करते पाँच रुपए की ग्राहकी हो गई।"

रात साढ़े दस-ग्यारह के बाद दाल, सब्ज़ी के सारे भगोनों को खाली कर माँजना होता। आटे की परात को भी। पिता परात में पानी डालकर छोड़ देते थे। वे परात को सबसे आखिर में माँजते। उसे माँजना बड़ा मुश्किल होता। आटा चिपककर नाखूनों में घुस जाता था जिससे नाखून बुरी तरह घिस जाते थे। सो ये काम वे खुद ही करते। हममें से कोई एक बर्तन माँजता, दूसरा उसे धोता जाता।

फिर सुबह के लिए हैण्डपम्प से टंकी भरते। बारी-बारी से सब बाल्टी भरकर टंकी में उड़ेलते जाते। पिता पूरी कोशिश करते कि हम थकें नहीं, और हम लोग 'कक्का हम, कक्का हम' कहते और करते

हुए बढ़-चढ़कर उनका हाथ बँटाते।

इसी बीच कोई ग्राहक आ जाता तो शिवा रोटी बनाती और मैं परोसती। पिता और शालू बर्तन-पानी का काम करते रहते। इस सबसे निपटकर पिता सुबह के लिए टोकरी भर प्याज़ छीलकर रखते। हरी मिर्च के डण्ठल निकालते और हरा धनिया भी साफ करते। कभी-कभी लहसुन और अदरक भी सुबह के लिए छीलकर रख देते। फिर हम सब लोग खाना खाते। दाल फ्राई और मोटी-मोटी रोटी। कोई दो एक साथ। एक बनाता, एक परोसता। फिर दूसरे दो खाते।

जिस दिन ज़्यादा ग्राहकी होती उस दिन मुझे नमकीन के लिए एक रुपया देते। मैं जय-स्तम्भ चौराहे तक दौड़ती जाती और नमकीन की पुड़िया दबाए दौड़ती आती। खा-पीकर ढाबा बन्द कर घर पहुँचते। माँ प्रतीक्षा करती मिलती। कई बार तो ज़्यादा देर होने पर गली के मुहाने पर खड़ी मिलती।

वो बरहमेश रंज में रहती कि हमें लड़कियों के तौर-तरीके नहीं सिखा पा रही है। वह हमें और दूसरी लड़कियों-सा देखना चाहती थी। उसे एक ही चिन्ता सताए रहती - 'पराये घर जाकर, हमारा क्या होगा'। हम घर में सिर्फ सोते भर थे। स्कूल जाने से पहले घुसते और स्कूल के बाद उतनी ही देर घर में रुकते थे, जितनी देर कपड़े बदलने और होमवर्क वाली कॉपी-किताब लेने में होती है।

***

हम पढ़ाई भी ढाबे पर ही करते थे। ग्राहक के आने पर कॉपी बन्द कर देते और फ़ुर्सत पाते ही होमवर्क करने बैठ जाते। हमें पढ़ते देख पिता गद्‌गद् हो जाते। छोटे-मोटे काम खुद ही करते रहते। वे एक पल भी न बैठते थे। लोग हमें पढ़ते देख तारीफ करते। पिता अकड़ जाते, "अकेला आदमी ग्यारह लोगों का परिवार चलाता हूँ।

किसी चीज़ की कमी नहीं है मेरे बच्चों को। जान लगा दूँगा इनका जीवन बनाने में। बस एक बात है साब। रोज़ कुआँ खोदते हैं और रोज़ पानी पीते हैं। हमारे पास जमा पूँजी नाम मात्र की भी नहीं है। किसी दुख-बीमारी के लिए भी पैसा नहीं बचता हमारे पास।"

अकड़ में उनकी नाक फूल जाती और पूरे शरीर में लचक भर जाती, "बच्चे हमारे मेहनती हैं। रात-दिन लगे रहते हैं मेरे साथ। अरे जितनी मेहनत करेंगे, उतना ही ओढ़ेंगे-पहनेंगे और खाएँगे-पिएँगे। पढ़ाई में कोई कोताही नहीं बरतते हम।"

हम और मन लगाकर पढ़ने लगते। शिवा मुझे बुलाती और धीरे-से कहती, "कल से अपन ऐसा कुछ करेंगे कि क्लास से एक चैप्टर आगे चलेंगे।"

मैं उसकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाती और शालू सोचती कि शिवा कोई और खिचड़ी पका रही है।

खिचड़ी तो सिवनी मालवा वाले जीजाजी की हमेशा कच्ची रहती। घण्टों चूल्हे पर चढ़ी होने के बाद भी उनकी खिचड़ी पक न पाती। ठण्डी देगची में अधपकी खिचड़ी लिए वे पिता से कहते, "कक्का, अब तो इन लोगों को घर पर ही रहने दिया करो। यह सब बड़ी हो गई हैं अब। अच्छा नहीं लगता, इन्हें इस तरह बाज़ार में काम करते देख।"

पिता का तवा हमेशा गरम रहता, "क्यों जी, अगर ये घर बैठ जाएँगी तो दुकान का क्या होगा? मैं अकेला इसे कैसे चलाऊँगा?"

"काम वाले लगाइए।" ज्ञान देते-से वे बोलते।

"फिर काम करने वाले खा लें या ये खा लें! कैसी ऊल-जुलूल बातें करते हो भई? अरे कोई खा जाएगा का इन्हें?"

पिता बड़ी मुश्किल से सँभलते। सिवनी मालवा वाले अपना-सा मुँह लेकर रह जाते लेकिन हारते नहीं। वे हम लोगों को मनाने लगते, "सुनो। कक्का नहीं मानते हैं, तो तुम ही लोग ढाबे पर बैठना बन्द कर दो। कोई भी बहाना बना दिया करो। कभी पढ़ाई का, कभी बीमारी का। बस, दुकान मत जाया करो।"

वे कई-कई तरह से कोशिश करते कि हम लोग ढाबे पर काम न करें। शालू और शिवा उन्हें आश्चर्य से देखतीं और मैं उनकी सारी बातें कक्का को सुना देती। कक्का गाली देकर कहते, "...पढ़ा-लिखा बेवकूफ। कौन कहेगा, ये नए ज़माने का आदमी है?"

माँ बिदक जाती, "अकेले तुमई हो रज्जो नए ज़माने के, बाकी सब तो पागल हैं। जैसे अकेले तुमई अन्न खात हो...। बाकी सब तो भाजी मूरा खातहें।"

"हाँ, और नहीं तो का? सही कह रही हो बाई तुम। वे अपनी तरह दाल फ्राई और मोटे-मोटे टिक्का नहीं खाएँ। इसीलिए कम अकल है उनमें।" मैं भी

पीछे न रहती।

***

पिता हममें एक अजब आत्मविश्वास पैदा कर रहे होते। वे ढाबे को हमारी कमज़ोरी नहीं, बल्कि मज़बूती बना रहे होते। 'अपने काम में शर्म कैसी' जैसी बातों से हमारे भीतर एक नई उत्तेजना और ऊर्जा भर रहे होते, जो उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। कोई भी चीज़ हो, चाहे खाने की, चाहे पहनने की, वो सबसे बाद में लेते थे।

उनके पास सिर्फ एक पीला कलफदार खादी का कुरता, सफेद झक्क पजामा और लम्बा-सा कम्बलनुमा शॉल था जिसे वह खास मौकों पर साल में एकाध बार ही पहनते थे। यह जोड़ा हमेशा तह किया हुआ एक छोटी-सी पेटी में रखा रहता। वे इसे बहुत सावधानी और सलीके से वापरते थे। जब कभी वे इन्हें पहनते तो हम सब बहुत खुश होते।

एक-दूसरे से कहते, "देखो, अपने कक्का कित्ते अच्छे लग रहे हैं!"

शालू, शिवा इन कपड़ों का बहुत खयाल रखतीं। माँ धोती और वे दोनों

प्रेस करतीं। शालू हम छोटों को उस पेटी के पास फटकने भी नहीं देती थी।

रोज़मर्रा के कपड़ों में उनके पास दो लुँगी-बनियान थीं। बनियान में पहले छेद होते, छेद नक्शे में बदलने लगते, फिर वह फटने लगती, तब भी वे उसे पहने रहते। माँ टोकती, नई बनियान लेने के लिए कहती लेकिन वह अनसुनी करते जाते। फिर बीच-बीच में माँ उसे सिलती रहती। जब बनियान बिलकुल तार-तार हो जाती तो उनके दोस्त भी टोकने लगते, "अरे, राम जी अब तो जाए बदल लो, जा में जान नहीं बची अब।"

बड़ी मुश्किल से बनियान आ पाती। वो भी ऐसे कि शालू-शिवा उनसे बिना पूछे, खाते वाली दुकान से ले आतीं।

कोयला, साग-सब्ज़ी, मसाला, हाट-बाज़ार, बिजली का बिल भरना – ये सारे काम वे लुँगी-बनियान में ही निपटाते थे।

एक बार एक लड़की ने शिवा से पूछ लिया, "क्यों शिवानी, तुम्हारे पापा कपड़े क्यों नहीं पहनते? लुँगी में ही घर के बाहर आ जाते हैं।"

शिवा ने तपाक से कहा, "कुछ दिन बाद तुम्हारे पापा चड्डी-बनियान में बाज़ार आएँगे-जाएँगे। चिन्ता मत करो, गर्मी भौत है।"

शिवा का इतना कहना था कि सारी लड़कियाँ चड्डी के नाम पर खी-खी करते हँसने लगीं।

नीलेश रघुवंशी: कवि, बच्चों के नाटक और कई नाट्य आलेख लिखे हैं। टेलीफिल्म में पटकथा लेखन। भारतभूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार, आर्य स्मृति सम्मान, दुष्यन्त कुमार स्मृति सम्मान जैसे कई पुरस्कारों से सम्मानित। भोपाल में रहती हैं।

सभी चित्र: अंकिता ठाकुर: राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान, अहमदाबाद से ग्राफिक डिज़ाइन में स्नातकोत्तर की पढ़ाई कर रही हैं। बाल साहित्य और चित्रों में दिलचस्पी रखती हैं।

यह भाग राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित नीलेश रघुवंशी के उपन्यास *एक कस्बे के नोट्स* से लिया गया है।